



International Journal of Sanskrit Research

अनन्ता

ISSN: 2394-7519

IJSR 2015; 1(5): 25-26

© 2015 IJSR

www.sanskritjournal.com

Received: 20-06-2015

Accepted: 22-07-2015

रविष तमन्ना ताजिर

संस्कृत-पालि एवं प्राकृत विभाग,
रानीदुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

प्राचीन कालीन पारिवारिक व्यवस्था का स्वरूप

रविष तमन्ना ताजिर

मानव ने अपने सामाजिक जीवन को मजबूत, स्थिर एवं सुखमय बनाने हेतु जिन संस्थाओं को स्वरूप प्रदान किया उनमें परिवार एक महत्त्वपूर्ण इकाई है। पारिवारिक व्यवस्था ने मानव जीवन को गतिशीलता एवं निरन्तरता प्रदान की है। वंश परम्परा द्वारा मनुष्य का संतति क्रम अविच्छिन्न रूप से आगे बढ़ता रहता है। परिवार का यह स्वरूप प्राचीन है एवं भारतीय उपमहाद्वीप की सभी जातियों में प्रचलित रहा है। भारत में संयुक्त परिवार का विचार आज भी परम्परागत रूप से विद्यमान है। परिवार अथवा कुल सामाजिक जीवन की इकाई ही नहीं बल्कि आधार-षिला है। जन्म से लेकर मृत्यु तक सम्पूर्ण अवस्था पारिवारिक संगठन के अन्तर्गत संचालित होती है।¹ माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहन और पुत्र-पुत्री के संयोग से परिवार का निर्माण होता है। समाज में मनुष्य की विभिन्न आवश्यकताएं होती हैं, जो परिवार के माध्यमों से पूरी की जाती हैं। कामेच्छा की पूर्ति, सन्तान को जन्म देना और उनका पालन-पोषण करना आदि विभिन्न व्यक्तिगत और सामाजिक कार्य परिवार के ही माध्यम से संभव हैं। परिवार संस्था का उद्भव और विकास इसी आधार पर हुआ है।

विवाह द्वारा परिवार का निर्माण करके मनुष्य सन्तानों के माध्यम से अपने को फैलाता है, लम्बा करता है और अमर बनाता है।² इसलिए संस्कृत में बच्चों के लिए संतति, सन्तान और तनय आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। अतः परिवार अथवा कुटुम्ब एक प्राथमिक समूह के साथ-साथ मौलिक इकाई भी है, जिसमें पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री आदि सदस्य के रूप में होते हैं जिनका एक-दूसरे से रक्त सम्बन्ध होता है। परिवार का यह विकास समुदाय और समाज को विकसित और सर्वार्थित करता है तथा उसके सांस्कृतिक जीवन को भी पल्लवित-पुष्पित करता है।

पूर्व वैदिककालीन 'जन' वस्तुतः कुछ एक वृहद् परिवारों का भी समूह होता था। अतः वह 'जन' की इकाई मात्र न होकर उसकी उत्पत्ति का ही आधार था। क्रमशः जनो के विस्तार में परिवार की स्थिति समाज की एक छोटी इकाई तक सीमित कर दी और परिवार का स्वरूप भी संकुचित होता गया। इसके अन्तर्गत अब केवल सीधे-साधे रक्त सम्बन्धों से जुड़े हुए लोग शेष रह गये। जो एक सीधे वंशानुक्रम में परिगणित किये जा सकते थे। वैदिक समाज प्रारम्भ से ही पितृ-प्रधान था। अतः पिता से ही ऊपर या नीचे वंशानुक्रम की गणना की जानी स्वाभाविक थी।

वैदिक साहित्य में प्रायः तीन से चार पीढ़ी तक के प्राणियों के पारिवारिक दृष्टि से सम्बन्धित होने का उल्लेख मिलता है। जिसकी पुष्टि श्राद्ध तथा अन्य यज्ञों में, पितरों के आह्वान से होती है। शतपथ ब्राह्मण में हाथ धोने के लिए क्रमशः यजमान के पिता, पितामह, प्रपितामह, शब्द का उल्लेख हुआ है। संहिताओं में भी प्रपितामह का उल्लेख हुआ है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में परिवार के सदस्यों के आह्वान के अन्तर्गत पूर्वजों में पिता, पितामह तथा वंशजों में पुत्र-पौत्र, पौ. को बुलाने का निर्देश मिलता है।³ ब्राह्मण ग्रन्थों में पौत्र का अधिक वर्णन किया गया है। उत्तर वैदिक काल तक पितरों की पूजा का रूप परिवर्तित हो चुका था। ऋग्वेद, शुकल, यजुर्वेद तथा अथर्ववेद में उल्लिखित पितरों की पूजा में स्पष्ट अन्तर दिखाई देता है। ऋग्वेद में पितरों का सामान्य रूप से आह्वान किया गया है।⁴ ऐसा ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध किसी कुल विशेष से नहीं वरन् सम्पूर्ण 'जन' माना जाता था तथा यज्ञादि पवित्र अवसरों पर इनका आह्वान होता था। यज्ञ के समय हजारों की संख्या में देवताओं सहित इनकी उपस्थिति की आशा की जाती।⁵ जबकि उत्तर वैदिक साहित्य में पितृ पूजा के जो उदाहरण मिलते हैं उनसे स्पष्ट है कि पुत्र अपने ही पिता, पितामह आदि पूर्वजों को यज्ञ द्वारा सन्तुष्ट करते थे। साधारणतया चार पीढ़ी के लोक एक परिवार में साथ-साथ रहते थे। जिनमें चौथा अपने तीन पूर्वजों (पिता, पितामह, प्रपितामह) से परिचित होने के कारण मृत्यु के पश्चात् उन्हें बलि देता था, यदि परिवार में तीरन पीढ़ी के लोग रहते तो पितृ-पूजा में दो पीढ़ी के पूर्वजों को स्नान मिलता। दूसरी तरफ अथर्ववेद में नववधू को पोतों से युक्त परिवार पर शासन करने का आशीर्वाद दिया गया है।

Correspondence

रविष तमन्ना ताजिर

संस्कृत-पालि एवं प्राकृत विभाग,
रानीदुर्गावती विश्वविद्यालय, जबलपुर

शतपथ ब्राह्मण में अदिति के आठ पुत्रों का उल्लेख मिलता है।⁶ इससे स्पष्ट होता है कि उस काल में संयुक्त परिवार बहुत विषाल होता था। शतपथ ब्राह्मण में विषाल संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में कहा गया है कि जिसके घर में बहुत पुत्र हैं, उसका कुल बहुत बढ़ जाता है। अथर्ववेद के स्वापन सूक्त और सामनस्य सूक्त से संयुक्त परिवार के अस्तित्व की ओर संकेत मिलता है। अथर्ववेद के एक उद्धरण से स्पष्ट है कि परिवार संयुक्त प्रणाली पर ही आधृत था।⁷ उस युग में कुटुम्ब को अक्षुण्ण बनाये रखने के भी अनेक उदाहरण मिलते हैं। रात्रि में परिवार के माता-पिता आदि सभी सदस्यों के सोने का विवरण अथर्ववेद में दिया गया है।

कुछ पाष्वात्य समीक्षकों ने संयुक्त परिवार में सन्देह प्रकट किया है। उनका कहना है कि प्राचीनकाल में का परिवार संयुक्त था या नहीं, इस विषय में कोई निश्चित सम्मति नहीं बनायी जा सकती, क्योंकि इस सम्बन्ध में कोई निर्णायक प्रमाण नहीं मिलता। पुत्र युवा होने पर अपने पिता के साथ रहता था और उसकी पत्नी उसके पिता के घर का सदस्य बनती थी या पुत्र अपना नया घर बसाता था किन्तु प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त अनेक उदाहरणों से इस मत का खण्डन हो जाता है। प्राचीनकाल में परिवार में माता-पिता को पूजनीय माना गया है।⁸ महाभारत में भी यही स्थिति दृष्टिगोचर होती है। जहाँ पिता को परिवार के सभी सदस्यों का रक्षक कहा गया है। इसके पूर्व ऋग्वेद में भी पारिवारिक व्यवस्था के अन्तर्गत पिता को सभी के लिए कल्याण एवं दया का प्रतीक बताया गया है।⁹ याज्ञवल्क्य स्मृति में पिता को शिक्षक के रूप में स्वीकार किया है।¹⁰ अतः स्पष्ट है कि प्राचीन समय में पिता की गरिमा यथपूर्ण थी एवं उसे सभी सदस्यों पर पूर्णतया अधिकार था। पुत्रों पर उसका सर्वाधिक अधिपत्य था रामायण में राम का वनवास स्वीकार करना, तत्कालीन पारिवारिक व्यवस्था में पुत्र पर पिता के अधिकार एवं आज्ञा पालन का श्रेष्ठ उदाहरण है।

वैदिक काल में पिता अपने परिवार की सम्पूर्ण सम्पत्ति का अधिकारी होता था। वह पूर्वजों द्वारा प्राप्त सम्पत्ति का संरक्षक था एवं अपनी अर्जित सम्पत्ति का स्वामी माना जाता था। इसके साथ ही परिवार के सदस्यों द्वारा कमाया गया धन को भी पिता का अर्जन समझा जाता था। पिता को अपने जीवनकाल में आवश्यक होने पर सम्पत्ति के विभाजन का अधिकार था एवं वह अपनी इच्छानुसार ज्येष्ठ पुत्र को श्रेष्ठ भाग, मँझले को मध्यम एवं छोटे को कनिष्ठ भाग दे सकता था पिता सभी पुत्रों को समान अंश भी दे सकता था। किन्तु परवर्ती काल के साहित्य में पारिवारिक सम्पत्ति विभाजन के स्पष्ट संकेत प्राप्त होते हैं। शतपथ ब्राह्मण में एक स्थान पर देव और असुर दोनों को अपने पिता प्रजापति से दायभाग प्राप्त करने का उल्लेख हुआ है।¹¹ शतपथ ब्राह्मण के अन्य उद्धरण में प्रजापति के पुत्र देवताओं तथा असुरों द्वारा पृथ्वी को बांटने का वर्णन मिलता है। अथर्ववेद के अनुसार पिता के जीवनकाल में उसके सभी पुत्र एवं पौत्र बहुधा साथ-साथ रहते थे, यद्यपि कभी-कभी उसकी वृद्धावस्था में उसके पुत्र पारिवारिक सम्पत्ति का बंटवारा करने की मांग करते थे।¹² पिता के जीवनकाल में ही पुत्रों द्वारा सम्पत्ति-विभाजन एक अभूतपूर्व एवं आप्चर्यजनक बात थी। इससे प्रकट होता है कि उत्तर वैदिक युग में पिता की असीम सत्ता का ह्रास होने लगा था। जबकि पूर्ववैदिक कालीन आर्यों की पितृप्रधान पारिवारिक व्यवस्था में पुत्रों पर पिता का प्रायः निरंकुष शासन रहता था। वह पारिवारिक सम्पत्ति का वह एक मात्र स्वामी था और पुत्रों का साम्प्रतिक अधिकार मात्र नैतिक था किन्तु इसके विपरीत उत्तर वैदिक काल में पुत्र-पिता की सम्पत्ति पर अपना स्वाभाविक अधिकार मानने लगे थे।¹³ इससे स्पष्ट है कि इस युग में जहाँ एक ओर पिता के निरंकुष अधिकारों का अन्त हो रहा था, वहीं दूसरी तरफ पारिवारिक सम्पत्ति पर सामूहिक स्वामित्व की चेतना विकसित हो रही थी। अतः यह माना जा सकता है कि ब्राह्मणकाल में पुत्रों के जन्मना स्वत्ववाद का सिद्धान्त अस्तित्व में आ चुका था। किन्तु परवर्ती युग में यह सिद्धान्त प्राचीन परम्परा के अनुकूल न होने के कारण धर्मसूत्रों द्वारा अनुमोदित हुआ।

अन्त में यह कहा जा सकता है कि उत्तर वैदिककाल से स्मृतिकाल

तक पारिवारिक संगठन बहुत कुछ पूर्ववैदिक युग के समान था। जबकि इसमें आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों के कारण कुछ अन्तर भी आ गये थे किन्तु संयुक्त परिवार की परम्परा अभी समाप्त नहीं हुई। संयुक्त परिवार की अपनी विशेषता एवं उपयोगिता थी। प्राचीनकाल की सामाजिक स्थिति में संभवतः ऐसे परिवार की उपयोगिता अधिक थी अतएव उनके विघटन को रोकने के लिए प्राचीन विचारकों ने परिवार के विभिन्न सदस्यों को एक-दूसरे से प्रेम एवं सौहार्दपूर्ण व्यवहार करने का बार-बार निर्देश किया है।

संदर्भ

1. वेदालङ्कार हि.परि. मीमांसा, पृ. 1
2. शतपथ ब्राह्मण 2/4/2/16
3. अथर्ववेद 18/4/75
4. ऋग्वेद, 10.1.5
5. कपाडिया हिन्दू किनषिप, पृ. 12
6. शतपथ ब्राह्मण 3/1/3/2-4
7. अथर्ववेद 2/30/1-3
8. याज्ञवल्क्य स्मृति द्वितीय अध्याय
9. ऋग्वेद
10. याज्ञवल्क्य 2/110
11. शतपथ ब्राह्मण 3/2/1/18
12. अथर्ववेद 3/30/1-3
13. राव, उत्तर वैदिक समाज एवं संस्कृति, पृ. 127